गौतम बुद्ध का जीवन और उनकी शिक्षाएँ

स्नातक तृतीय वर्ष
प्राचीन इतिहास (भारतीय धर्म)

डॉ. विश्वनाथ वर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग
हरिश्चंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय वाराणसी (उ.प्र.)
E-mail : drvn.verma@gmail.com
Website : www.worldwidehistory.com

गौतम बुद्ध का जीवन और उनकी शिक्षाएँ

नवीन बौद्धिक आंदोलन के रूप में बौद्ध धर्म का उदय ई.पू. छठी शताब्दी की सर्वाधिक युगांतकारी घटना थी। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक एवं संस्थापक गौतम बुद्ध का जन्म लगभग 563 ई.पू. में रानी महामाया के गर्भ से बैशाख पूर्णिमा के दिन शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु के निकट लुंबिनी नामक वन में, जिसकी पहचान भारत-नेपाल सीमा पर स्थित रुमिन्देई से की जाती है, हुआ था। यहाँ से मौर्य सम्राट अशोक का एक अभिलेख-युक्त स्तंभ 1895 ई. में प्रप्त हुआ है जिस पर उत्कीर्ण है, 'हिद बुधे जाते साक्यमुनिति हिद भगवा जातेति' अर्थात् यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे, यहाँ भगवान् उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम शुद्धोधन था, जो हिमालय के तटवर्ती कपिलवस्तु गणराज्य के शाक्यवंशी शासक थे तथा कोसल के अधीन थे। बोधिसत्व के जन्म के उपरान्त कालदेवल और कौडिन्य ने यह मत प्रतिपादित किया कि वे या तो चक्रवर्ती सम्राट होंगे अथवा संसार का त्यागकर एक विख्यात ज्ञानी बनेंगे। पाँचवे दिन नामकरण संस्कार में बालक को एक अर्थपूर्ण नाम दिया गया 'सिद्धार्थ'। जन्म के सातवें दिन ही कोलिय माता महामाया का देहांत हो गया जिसके कारण इनका पालन-पोषण इनकी मातृवसा (मौसी) महाप्रजापति गौतमी ने किया जिसके कारण इन्हें 'गौतम' कहा गया।

बालक सिद्धार्थ को नाना शिल्प, अस्त्रविद्या एवं कलाओं के साथ-साथ पुस्तकीय और क्षत्रियोचित सामरिक शिक्षा दी गई। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी से लचतित राजा शुद्धोधन ने सिद्धार्थ को अत्यंत भोग-विलास में रखा ताकि वे संसार के मोह और आकर्षण से विरक्त न हों तथा दुःख और कष्ट का अनुभव न करें। उन्होंने गौतम को सांसारिकता से आबद्ध करने के लिए सोलह वर्ष की अवस्था में ही शाक्यवंश की रूपवती कन्या यशोधरा से उनका विवाह कर दिया। कुछ ही वर्षों में सिद्धार्थ एक कांतिमान पुत्र के पिता भी बन गये, किंतु पुत्र-जन्म से गौतम को कोई प्रसन्नता नहीं हुई और उनके मुख से निकल पड़ा कि 'राहु' (बंधन) उत्पन्न हुआ है। इसी से नवजात शिशु का नाम 'राहुल' पड़ा।

बौद्ध-ग्रंथों के अनुसार सिद्धार्थ का मन न भिन्न-भिन्न ऋतुओं के लिए निर्मित प्रासाद में ही रमता था और न ही पत्नी के आकर्षण में। वे सदैव जगत् के क्लेश, दुःख से निवृत्ति के विषय पर चिंतन किया करते थे तथा सांसारिक मोह-माया से मुक्ति पाना चाहते थे। परवर्ती बौद्ध-साहित्य में चार कष्ट-संकलित घटनाओं का उल्लेख मिलता है- जर्जर शरीर लिए वृद्ध, पीड़ित रोगी, मृतक तथा वीतराग संन्यासी। देवदूतों द्वारा प्रदर्शित इन चार घटनाओं की शृंखला ने वह कर दिया जिसे बचाने के लिए शाक्य शासक शुद्धोधन ने अपनी सारी बुद्धि और शक्ति लगा दी थी। एक बार पुनः प्रमाणित हुआ कि भविष्य घटकर ही रहता है, उससे बचकर निकलना संभव नहीं है। अंततः सिद्धार्थ ने सबके सुख, स्वास्थ्य और आनंद के लिए अपना सब कुछ त्यागने का निर्णय कर लिया।

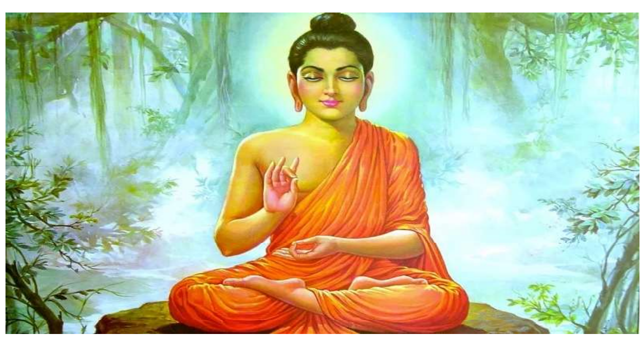

कहा जाता है कि एक रात अनेक रमणीय गणिकाओं का नृत्य देखते-देखते गौतम सो गये। गणिकाएँ भी निद्रामग्न हो गईं। राजकुमार गौतम की नल्द सहसा टूटी तो गणिकाएँ निद्रावस्था में उन्हें बड़ी विद्रूप और भयानक दिखाई दीं। किसी के बाल बिखरे थे, कुछ लगभग निर्वस्त्रा थीं और उनमें से कुछ भयावह खर्राटें भर रही थीं। गौतम में संसार-त्याग की भावना दढ़ हो चुकी थी। अंत में पत्नी यशोधरा तथा शिशु राहुल को सोता छोड़कर उन्होंने गृह-त्याग कर दिया।

गृह-त्याग (महाभिनिष्क्रमण)

सिद्धार्थ ने 29 वर्ष की आयु में सांसारिक दु:ख के उन्मूलन के लिए ज्ञान की खोज में घर-बार छोड़ दिया। यह घटना 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाती है। यह सत्य नहीं है कि बोधिसत्व घर के लोगों को बताये बिना छन्न के साथ कन्थक पर बैठकर भाग गये। मज्झिमनिकाय में गौतम स्वयं कहते हैं कि 'बोधि प्राप्त करने की पूर्व की दशा में मेरे मन में यह विचार उठा कि यह गृहस्थी का जीवन पूर्ण शुद्ध, धर्ममय जीवन के अभ्यास में अत्यंत बाधक है। जब मैं किशोर अवस्था में जीवन के उठान पर कष्ण केशों से युक्त था, अपने माता-पिता की अनिच्छा तथा अश्रुपूरित नेत्रों से रुदन करने के बावजूद, मैंने अपने केशष्मश्रु काट डाले तथा काषाय वस्त्र पहनकर गृह का त्यागकर अनिकेत जीवन अपना लिया।' इससे यह स्पष्ट है कि 'बोधिसत्व परिव्राजक होनेवाले हैं', यह बात शुद्धोधन और गौतमी को बहुत दिनों से पता थी और उनकी इच्छा के विरुद्ध एवं उनके समक्ष ही उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

गौतम के गृह-त्याग के कारणों के संबंध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। परवर्ती विश्वास के अनुसार यह परिवर्तन अचानक घटा, किंतु मात्र चार दश्य उनके गृह-त्याग के एकमात्र कारण नहीं रहे होंगे। कोसम्बी के अनुसार रोहिणी नदी के जल के बँटवारे को लेकर शाक्यों का पड़ोसी कोलियों से प्राय: होनेवाले युद्धों के संकट से अपने परिवार की रक्षा करने के हेतु गौतम ने स्वयं गृह-त्याग किया था। जो भी हो, गौतम दु:ख से जलते हुए संसार की संरक्षा का उपाय खोजकर संपूर्ण मानवता को दु:खों से मुक्ति दिलाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने आर्य-ज्ञान की खोज में गार्हस्थिक तथा सांसारिक मोह-माया का त्याग कर निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण किया।

ज्ञान की खोज (आर्यपर्येषणा)

संन्यास धारण करने के पश्चात् सिद्धार्थ शांति, सत्य तथा ज्ञान की खोज में भ्रमण करते हुए वैशाली में आलार कालाम नामक तपस्वी के आश्रम में पहुँचे। यहाँ गौतम ने अनेक प्रकार के कठिन योगाभ्यास सीखे, किंतु उन्हें संतोष नहीं हुआ। मज्झिमनिकाय के आधार पर धर्मानंद कोसम्बी का मानना है कि बोधिसत्व ने घर पर ही माँ-बाप के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण की थी। आलार कालाम के एक शिष्य भरण्डु का आश्रम कपिलवस्तु में था और उद्रक रामपुत्र के शिष्य पड़ोस के कोलियों के देश में रहते थे। बोधिसत्व ने प्रथम ध्यान की पद्धति इन्हीं परिव्राजकों से सीखी थी और इन्हीं लोगों ने उन्हें संन्यास-दीक्षा दी होगी। बोधिसत्व को शाक्य या कोलिय देश के किसी आश्रम में समय बिताना उचित नहीं लगा। उन्होंने स्वयं आलार कालाम से भेंट की, किंतु संतुष्ट न होने पर वे सच्चे ज्ञान की खोज में वैशाली छोड़कर राजगृह की ओर चले गये।

राजगृह में बोधिसत्व गौतम का मगध नरेश बिंबिसार से साक्षात्कार हुआ जिसका उल्लेख सुत्तनिपात्त के पब्बज्ज-सुत्त और ललितविस्तर में है। ललितविस्तर के अनुसार इसके बाद बोधिसत्व राजगृह के उपकंठ में रुद्रक रामपुत्र नामक ज्ञानी के आश्रम में ठहरे। गौतम ने अपेक्षाकत कम समय में और अल्प-परिश्रम के द्वारा ही 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' की भूमिका प्राप्त कर लिया, किंतु इस सिद्धि से भी गौतम को आत्म-संतुष्टि नहीं हुई। बोधिसत्व से प्रभावित होकर रुद्रक के पाँच भद्रवर्गीय ब्राह्मण-भिक्षु भी उनके साथ हो गये। अब वे भ्रमण करते हुए मगध जनपद के सैनिक सन्निवेश उरुवेला पहुँचे।

सिद्धार्थ ने उरुविल्व के निकट सेनानी ग्राम में नेरंजर (निरंजना) नदी के रमणीय तट पर वटवृक्ष के नीचे बैठकर उस समय के श्रमण-व्यवहार के अनुसार तपश्चर्या करने का निश्चय किया। मज्झिमनिकाय तथा ललितविस्तर में उनकी कठिन तपश्चर्या का उल्लेख है। किंतु कठिन तपस्या से भी उन्हें उद्दिष्ट ज्ञान की

प्राप्ति नहीं हुई और उनका शरीर दुर्बल होकर कंकाल-मात्र रह गया। मज्झिमनिकाय में गौतम स्वयं कहते हैं- 'मेरा कूल्हा ऐसा हो गया जैसे ऊँट का पैर, मेरी पसलियाँ ऐसी हो गईं जैसे पुराने कोठे की टेढ़ी-मेढ़ी कड़ियाँ, मेरी आँखें ऐसे धँस गईं जैसे गहरे कुंएँ में तारा, मेरे सिर की खाल चिचुक कर ऐसी हो गई जैसे धूप में मुरझाया हुआ लौका। यदि मैं पेट को पकड़ता तो पसलियाँ हाथ में आ जाती, यदि मैं शरीर पर हाथ फेरता तो रोएँ झड़ जाते, यदि मैं मल-मूत्र के लिए उठता तो चकराकर गिर जाता, लेकिन मैंने इस दुष्कर कार्य से भी उत्तम मनुष्य धर्म न पाया।'

अब सिद्धार्थ ने अनुभव किया कि केवल तपस्या के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी समय उन्हें कषिग्राम में हुए अपने समाधि के अनुभवों का स्मरण हुआ। बुद्ध के शब्दों में 'तब मुझे अपने पिता शाक्य के कर्मांत में जामुन की ठंडी छाँव में प्रथम ध्यान की प्राप्ति का स्मरण आया, कदाचित् वही बोधि का मार्ग हो।'

बोधिसत्त्व ने सुजाता के हाथ से खीर खाकर अनाहार का त्याग कर दिया तथा अपने शरीर को दढ़ बनाकर साधना के मार्ग को बदल देने का निश्चय किया। बोधिसत्व के पाँचों ब्राह्मण साथी उन्हें साधन से भ्रष्ट जानकर, उनका साथ छोड़कर वाराणसी के निकट मृगदाँव (सारनाथ) को चले गये।

संबोधि-प्राप्ति

सिद्धार्थ फल्गु नदी को पार कर अब गया आ गये। उन्होंने स्वस्तिक (श्रोत्रिय) नामक घसियारे से आसन हेतु कुछ घास माँग कर बोधिवृक्ष के नीचे आसन लगाया और यह दढ़ निश्चय किया कि 'बोधि प्राप्त किये बिना आसन नहीं छोड़ूँगा।' मार (कामदेव) के नेतृत्व में अनेक पैशाचिक तृष्णाओं ने ध्यान-संलग्न बोधिसत्त्व की समाधि भंग करने का प्रयत्न किया, किंतु वे गौतम की समाधि को भंग नहीं कर सके। सात दिन तक गौतम तपस्या में लीन रहे और आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा को उन्हें ज्ञान (बोधि) प्राप्त हुआ। अब वे पूर्ण ज्ञानी, बुद्ध अथवा प्रबुद्ध हो गये। बुद्धत्त्व-प्राप्ति के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम तपुस्स तथा भल्लिक नामक दो शूद्र व्यापारियों को उपदेश देकर बौद्ध धर्म का प्रथम अनुयायी बनाया।

धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन

संसार के हित के लिए बुद्ध ने धर्म प्रचार करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम वे अपने पुराने पंचवर्गीय ब्राह्मण भिक्षुओं- कौडिन्य, वप्प (वाप्प), भद्दिय (भद्रिक), महानाम और अश्वजित् को सत्य-धर्म का उपदेश देने सारनाथ (ऋषिपत्तन) पहुँचे। धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र के अनुसार बुद्ध के प्रथम उपदेश थे : परिव्राजक को अति काया-क्लेश और अति काम-सुख से बचना चाहिए। उसे मज्झिम पदिवा (मध्यम मार्ग) का अनुगमन करते हुए सत्य-चतुष्टय (दुःख का सत्य, दुःख-समुदाय का सत्य, दुःख से निवृत्ति का सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग) का पालन करना चाहिए। इस प्रकार वाराणसी के सारनाथ में बुद्ध ने अपना पहला धर्मोपदेश कर 'धर्मचक्रप्रवर्तन' किया।

बुद्ध ने संघ की स्थापना

सारनाथ में ही बुद्ध ने संघ की स्थापना की। काशी के पाँचों ब्राह्मण तपस्वी और श्रेष्ठि-पुत्र यश के साथ काशी का श्रेष्ठि-वर्ग बुद्ध संघ का सदस्य बना। बुद्ध ने इन बौद्ध भिक्षुओं को नाना-दिशाओं में धर्म-प्रचार और लोक-कल्याण के लिए भेजते हुए कहा, 'भिक्षुओं आप लोग बहुजनों के हित के लिए, सुख के लिए, लोगों पर अनुकम्पा करने के लिए, देवों तथा मनुष्यों के कल्याण के लिए धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त हो जाइए।'

वाराणसी से बुद्ध मगध आये जो अनेक धर्म प्रचारकों की कर्मभूमि थी। मगध में गया के तीन जटिल काश्यपों- उरुवेल, नादि एवं गया काश्यप और उनके एक सहस्त्र अनुयायी बौद्ध भिक्षु बने और राजगृह में संजय नाम के परिव्राजक आचार्य के दो शिष्यों- कोलित और उपतिष्य ने बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण किया, जो बाद में शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मगध के राजा बिंबिसार ने बुद्ध में श्रद्धालु होकर संघ को 'वेणुवन' नामक विहार उपहार में दिया। राजगृह में बुद्ध ने द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ वर्षाकाल व्यतीत किया। अजातशत्रु प्रारंभ में बुद्ध की ओर अनुकूल नहीं था, किंतु बाद में श्रामण्यफलसूत्र सुनकर उसका मन बदल गया था। बुद्ध ने गया, नालंदा, पाटलिपुत्रा आदि की भी यात्रा की तथा अनेक लोगों को अपना अनुयायी बनाया। राजगृह में रहते हुए उन्होंने एक बार अपने गृह-नगर कपिलवस्तु की भी यात्रा की। शाक्यगण पहले बुद्ध के प्रति अनुकूल नहीं थे, किंतु बाद में प्रतिहार्य-दर्शन से उनकी दृष्टि बदली। शाक्यों ने उनसे अपने नवनिर्मित संस्थागार का उद्घाटन करवाया था। राहुल की प्रव्रज्या का उल्लेख विनय में प्राप्त होता है। कोलियों में सुप्पावासा बुद्ध की प्रसिद्ध उपासिका थी। राजगृह से चलकर बुद्ध लिच्छवियों की राजधानी वैशाली पहुँचे। यहाँ उन्होंने पाँचवाँ वर्षाकाल व्यतीत किया। लिच्छवियों ने उनके निवास के लिए महावन में प्रसिद्ध कूटागारशाला का निर्माण करवाया। निर्ग्रंथ उपासक लिच्छवि सेनापति सिंह को अपना अनुयायी बनाना बुद्ध-शासन की बड़ी उपलब्धि थी।

वैशाली की प्रसिद्ध नगरवधू आम्रपाली ने बुद्ध की शिष्यता स्वीकार की और भिक्षुओं के निवास के लिए अपनी आम्रवाटिका प्रदान की। इसी स्थान पर बुद्ध ने पहली बार स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की और भिक्षुणी-संघ स्थापित किया। संघ में प्रवेश पानेवाली प्रथम महिला बुद्ध की सौतेली माता महाप्रजापती गौतमी थी जो शुद्धोधन की मृत्यु के बाद कपिलवस्तु से चलकर वहाँ पहुँची थी।

कपिलवस्तु से राजगृह जाते समय बुद्ध ने अनुपिय नामक स्थान पर कुछ समय विश्राम किया। इसी स्थान पर शाक्य राजा भद्रिक, अनुरुद्ध, उपालि, आनंद, देवदत्त को साथ लेकर बुद्ध से मिला था। बुद्ध ने इन सभी को सद्धर्म में दीक्षित किया और आनंद को अपना व्यक्तिगत सेवक बना लिया।

वैशाली से बुद्ध भगों की राजधानी सुमसुमारगिरि गये और वहाँ आठवाँ वर्षाकाल व्यतीत किया। यहाँ अभय राजकुमार और नकुल के माता-पिता ने सद्धर्म को ग्रहण किया। यहीं से बुद्ध कोशांबी गये और वहाँ नवाँ विश्राम किया। उदयन प्रारंभ में बौद्ध मत में रुचि नहीं रखता था, किंतु भिक्षु पिंडोला भारद्वाज के प्रभाव से वह बुद्ध का अनुयायी हो गया। कोशांबी में बुद्ध ने घोषित, कुब्जोत्तरा तथा अन्य महिलाओं तथा पुरुषों को दीक्षित किया। यहाँ के विख्यात श्रेष्ठी घोषित ने बुद्ध के निवास के लिए घोषिताराम नाम का एक सुंदर उद्यान बनवाया। यहीं से भगवान् बुद्ध मथुरा होते हुए वेरंजा गये और वहाँ बारहवाँ वर्षावास किया।

अवंति नरेश प्रद्योत ने भी बुद्ध को आमंत्रित किया था, किंतु बुद्ध वहाँ स्वयं नहीं जा सके और अपने शिष्य महाकच्चायन को उपदेश देने के लिए वहाँ भेजा था। बुद्ध ने चंपा और कजंगल की भी यात्रा की और वहाँ के लागों को अपने धर्म में दीक्षित किया।

सद्धर्म का सबसे अधिक प्रचार कोशल राज्य में हुआ जहाँ बुद्ध ने इक्कीस बार वास किया। प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक ने बुद्ध की शिष्यता गहण की और श्रावस्ती में भिक्षु-संघ के लिए 'जेतवन' विहार अठारह करोड़ स्वर्णमुद्राओं में राजकुमार जेत से खरीद कर दान किया। इस दान का अंकन भरहुत के एक शिल्प पर मिलता है- जेतवन अनाथपिंडको देति कोटिसम्थतेनकता।

कोशल में राजा प्रसेजनजित् बुद्ध के अनुग थे और उनसे अधिक रानी मल्लिका बुद्ध में श्रद्धा रखती थी। बुद्ध की एक अनुयायी विशाखा ने संघ के लिए पुब्बाराम-मिगारमातुपासाद (पूर्वाराम मृगारमातु प्रासाद) का निर्माण करवाया। बुद्ध जेतवन और पूर्वाराम में बारी-बारी निवास करते थे।

श्रावस्ती निवास के दौरान ही बुद्ध ने प्रसिद्ध क्रूर डाकू अंगुलिमाल को अपना अनुयायी बनाया। कोशल के अनेक प्रभावशाली और समृद्ध ब्राह्मणों- झीनक (अग्निक) भारद्वाज, पुष्कर सादी, धानजनि आदि ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

पावा के मल्लों में दर्व (दब्ब) और चुंद सुविदित अनुयायी थे। इस प्रकार बुद्ध ने धर्म की देशना कोशल, मगध और उनके पड़ोसी गणराज्यों में की और समाज के सभी वर्गों और जातियों से उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ी।

महापरिनिर्वाण

महापरिनिब्बानसुत्त में बुद्ध की अंतिम पदयात्रा का मार्मिक विवरण मिलता है। बुद्ध राजगृह में थे जब अजातशत्रु वज्जियों पर अभियान करना चाहता था। मगध के महामात्य ब्राह्मण वर्षकार (वस्सकार)ने बुद्ध से इस विषय पर पूछा। बुद्ध ने वज्जियों के सात अपरिहारणीय धर्म बताये, जिनके रहते वे अपराजेय थे। राजगृह से बुद्ध पाटलिग्राम होते हुए गंगा पारकर वैशाली पहुँचे, जहाँ गणिका आम्रपाली ने उनको भिक्षु-संघ के साथ भोजन कराया। इस समय परिनिर्वाण के तीन मास शेष थे। भगवान् ने वर्षावास समीप के 'वेलुवग्राम' में व्यतीत किया। यहाँ वे अत्यधिक रुग्ण हो गये और आनंद की इस आशंका पर कि कहीं भिक्षु-संघ से बिना कुछ कहे ही भगवान् का परिनिर्वाण न हो जाये, उन्होंने स्वयं कहा, 'मैं अब जीर्ण वृद्ध हूँ। अस्सी वर्ष की मेरी आयु है..., जैसे जर्जर शकट हो। अतएव आनंद! आत्मदीप बनकर आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण बनकर तुम लोग बिहरो।''

वैशाली से बुद्ध भंडग्राम और भोगनगर होते हुए पावा पहुँचे, जहाँ उन्होंने चुंद कम्मारपुत्त का आतिथ्य स्वीकार किया और 'सूकरमद्यव' (जंगली कंद भड़फोड़) खाने से उन्हें यंत्रणामय रक्तातिसार हो गया। रुग्णावस्था में ही उन्होंने कुशीनगर को प्रस्थान किया और हिरण्यवती नदी पारकर वे शालवन में दो साल वृक्षों के बीच लेट गये।

सुभद्र नामक परिव्राजक को उन्होंने अंतिम उपदेश किया और भिक्षुओं से कहा कि उनके बाद धर्म ही शास्ता रहेगा। पालि परंपरा के अनुसार तथागत ने बैशाखी पूर्णिमा के दिन यह कहकर कि, ''हे भिक्षुओं! इस समय आज तुमसे इतना ही कहता हूँ कि जितने भी संस्कार हैं, सब नाश होनेवाले हैं, प्रमादरहित होकर अपना कल्याण करो'' महापरिनिर्वाण को प्राप्त किया।

तथागत की मृत-देह का नगर के पूरब मल्लों के मुकुट-बंधन चैत्य पर जाकर अग्निदाह किया गया और अस्थि-अवशेषों का आठ भागकर कुशीनगर के मल्लों, मगध नरेश अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिलवस्तु के शाक्यों, अलकप्प के बुलियों, रामग्राम के कोलियों, बेट्ठद्वीप के ब्राह्मणों तथा पावा के मल्लों में बाँट दिया गया। इन सभी ने भगवान् बुद्ध के अस्थि-स्तूप बनवाये। इन आठ अस्थि-स्तूपों के अलावा दो और स्तूप बने- द्रोण ब्राह्मण ने कुंभ-स्तूप और पिप्पलिवन के मोरियों ने अंगारों का स्तूप बनवाया। महावंश के अनुसार अजातशत्रु ने एक विशाल स्तूप का निर्माण करवाया और रामगाम के स्तूप को छोड़कर अन्य सात स्तूपों से सात द्रोण अस्थियों का संग्रहकर उसमें स्थापित किया। कालांतर में इसी स्तूप के अस्थियों का वितरण अशोक ने अपने द्वारा निर्मित स्तूपों में किया।

गौतम बुद्ध की शिक्षाएँ

बुद्ध ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा और न अपने शिष्यों को अपना उपदेश किसी विशिष्ट, प्रमाणभूत भाषा में स्मरण रखने के लिए कहा। उन्होंने प्रचलित मागधी भाषा में उपदेश किया और भिक्षुओं को अनुमति दी कि वे अपनी-अपनी बोलियों में उनके उपदेशों का स्मरण करें। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तुरंत बाद ही बौद्ध धर्म की पहली संगीति हुई थी जिसका उद्देश्य बुद्ध-वचनों को सुरक्षित करना था। बुद्ध की शिक्षाओं का ज्ञान हमें पालि त्रिपिटक से ही प्राप्त होता है।

चार आर्यसत्य

ऋषिपत्तन (सारनाथ) में बुद्ध ने दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद, इन्हीं चार आर्यसत्यों का धर्मचक्र प्रवर्तित किया था और यही आर्य सत्य इस धर्म के समस्त सिद्धांतों के आधार हैं।

दुःख सत्य

बुद्ध के अनुसार जीवन दुःखों से परिपूर्ण है, सभी वस्तुएँ जो उत्पन्न हुई हैं, दुःख, अनित्य तथा अनात्म रूप हैं। जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय मिलन भी दुःख है, प्रिय वियोग भी दुःख है। संसार की सभी वस्तुएँ दुःखमय है- सब्बं दुखं।

दुःख-समुदय

बुद्ध के अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण अवश्य होता है, इसलिए दुःखों का भी कारण है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार दुःख की उत्पत्ति कोएक कारण नहीं है, इसके कारणों की एक लंबी श्रृंखला है जिसमें जरा-मरण से लेकर अविद्या तक बारह कड़ियाँ हैं और इन कारणों का मूल कारण अविद्या है।

दुःख-निरोध

तृतीय आर्यसत्य है कि दुःखों का निरोध संभव है। कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलंबित रहती है, इसलिए यदि कारण-परंपरा का निरोध कर दिया जाये, तो कार्य का निरोध स्वतः हो जायेगा। दुःखों का मूल कारण अविद्या है, इसलिए विद्या द्वारा अविद्या का निरोध कर देने पर दुःख-निरोध हो जाता है। साधारणतः इसे ही 'निर्वाण' कहा गया है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। निर्वाण का अर्थ जीवन का विनाश न होकर दुःखों का विनाश है और इसकी प्राप्ति जीवनकाल में भी संभव है। बुद्ध के अनुसार यह वर्णनातीत अवस्था है।

दुःख-निरोध का मार्ग

चतुर्थ आर्यसत्य है- दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद् अर्थात् जिन कारणों से दुःख की उत्पत्ति होती है, उनके नष्ट करने का उपाय ही निर्वाण का मार्ग है। दुःख-निरोध के आठ साधन बताये गये हैं जिन्हें 'अष्टांगिक मार्ग' कहा गया है। जिस प्रकार गंगा, यमुना, अचिरवती, सरमू (सरयू) तथा मही नदियाँ पूर्व की ओर बहनेवाली, समुद्र की ओर अभिगामिनी होती हैं, उसी प्रकार अभ्यास करने पर आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाण की ओर ले जानेवाला होता है। अष्टांगिक मार्ग निम्नलिखित हैं-

1. सम्यक् दष्टि : वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना ही सम्यक् दष्टि है।
2. सम्यक् संकल्प : आसक्ति, द्वेष तथा हिंसा से मुक्त विचार रखना ही सम्यक् संकल्प है।
3. सम्यक् वाक : सदा सत्य तथा मृदु वाणी का प्रयोग करना ही सम्यक् वाक् है।
4. सम्यक् कर्मांत : इसका आशय अच्छे कर्मों में संलग्न होने तथा बुरे कर्मों के परित्याग से है।
5. सम्यक् आजीव : विशुद्ध रूप से सदाचरण से जीवन-यापन करना ही सम्यक् आजीव है।
6. सम्यक् व्यायाम : अकुशल धर्मों का त्याग तथा कुशल धर्मों का अनुसरण ही सम्यक् व्यायाम है।
7. सम्यक् स्मृति : इसका आशय वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के संबंध में सदैव जागरूक रहना है।
8. सम्यक् समाधि : चित्त की समुचित एकाग्रता ही सम्यक् समाधि है।

शील, समाधि और प्रज्ञा

प्राचीन बौद्ध साहित्य में शील, समाधि और प्रज्ञा को दुःख-निरोध का साधन बताया गया है। शील का अर्थ है सम्यक् आचरण, समाधि का अर्थ है सम्यक् ध्यान तथा प्रज्ञा का अर्थ सम्यक् ज्ञान से है। अष्टांगिक मार्ग को इन्हीं के अंतर्गत रखा गया है। शील के अंतर्गत सम्यक् कर्मांत तथा आजीव को, समाधि के अंतर्गत सम्यक् व्यायाम, समृति तथा समाधि को और प्रज्ञा के अंतर्गत सम्यक् दष्टि, संकल्प तथा वाक् को रखा जा सकता है।

आर्य सत्यों के ज्ञान तथा अनुशीलन से निर्वाण की प्राप्ति मानव को जरा-मरण के चक्र से छुटकारा दे सकती है। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत अधिक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करना या अधिक काया-क्लेश में संलग्न होना- दोनों को वूजत किया है। इस संबंध में उन्होंने 'मध्यम मार्ग' का उपदेश दिया है।

निरीश्वरवाद

बौद्ध धर्म मूलतः निरीश्वरवादी है। बुद्ध के अनुसार विश्व प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमों से संचालित होता है और इसके संचालन के लिए ईश्वर नामक किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। जगत् उत्पत्ति तथा विनाश के नियमों में आबद्ध है, इसलिए उन्होंने भिक्षुओं को 'अप्पदीपो भव' (अपना प्रकाश स्वयं बनो) का

उपदेश देकर स्वयं प्रकाश खोजने का उपदेश दिया। उनका कहना है कि निर्वाण प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं अपना उत्तरदयित्व है। उन्होंने सदाचार और नैतिक जीवन पर अत्यधिक बल दिया है।

दसशीलों का अनुशीलन नैतिक जीवन का आधार है। ये दसशील हैं- अलहसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, व्यभिचार न करना, मद्य का सेवन न करना, असमय भोजन न करना, सुखप्रद बिस्तर पर न सोना, धन संचय न करना और स्त्रियों से संसर्ग न करना।

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध के उपदेशों का का सार है और बौद्ध धर्म की समस्त शिक्षाओं का आधार-स्तंभ है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है- किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति, अर्थात् सापेक्ष कारणवाद। इसमें कारण की सत्ता और कार्य की सत्ता में सापेक्षता है। यह इस नियम का निरूपण करता है कि 'इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नहीं होता, इसके विरोध से यह निरुद्ध है।'

प्रतीत्यसमुत्पाद का एक पारमार्थिक पक्ष है जो परमार्थ को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यावहारिक पक्ष है जो संसार में कार्य-कारण-नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। सापेक्षवादी दष्टि से विचार करने पर प्रतीत्यसमुत्पाद संसार (दुःख) है तथा वास्तविकता की दष्टि से यही निर्वाण (दुःख-निरोध) है।

बुद्ध का यह कहना नहीं है कि संसार के प्रवाह में पदार्थ हैं भी और नहीं भी हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष्य होने के कारण न तो पूर्ण सत्य है और न ही पूर्ण असत्य है। पूर्ण सत्य इसलिए नहीं है कि यह जरा-मरण के अधीन है और पूर्ण असत्य इसलिए नहीं है कि इसका अस्तित्व दिखाई देता है। यही बुद्ध का 'मध्यम मार्ग' है जो दोनों अतिवादी विचारधाराओं- शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों का निषेध करता है। बुद्ध ने स्वयं प्रतीत्यसमुत्पाद को अत्यधिक महत्त्व दिया है और कहा है कि 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है।'

द्वादश निदान

प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार जैसे दुःख (जरा-मरण) का कारण जन्म है, उसी प्रकार जन्म का कारण भी कर्मफल को उत्पन्न करनेवाला अज्ञानरूपी चक्र है। इस कार्य-कारण शृंखला में बारह प्रधान कड़ियाँ हैं जो एक-दूसरे को उत्पन्न करने के कारण हैं। इसे द्वादश निदान, भवचक्र, जीवन चक्र आदि कहा गया है। इस जीवन-चक्र के बारह क्रम हैं- अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण।

जीवन-चक्र के इन बारह कारणों में से प्रथम दो पूर्व जन्म से संबंधित हैं तथा अंतिम दो भावी जीवन से और शेष वर्तमान जीवन से संबंध रखते हैं। यह जीवन-मरण का चक्र मृत्यु के साथ समाप्त नहीं होता। मृत्यु तो जीवन के प्रारंभ होने का कारण मात्र है। इस हेतु-चक्र का अंत करने के लिए अविद्या का अंत आवश्यक है और ज्ञान ही अविद्या का उच्छेद करके व्यक्ति को निर्वाण की ओर ले जाने में समर्थ है।

कर्म और कर्मफल की परंपरा

बुद्ध के अनुसार कर्म और कर्मफल की एक अनादि और अविच्छिन्न परंपरा है। बुद्ध ने कर्म को चेतना कहा है। कर्म क्योंकि चेतना है, इसलिए वह अपने फल को स्वयं अंगीकार या आकृष्ट कर लेती है। फल देने के लिए किसी चेतन या ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। अपने सुख-दुःख के लिए प्राणी स्वयं ही उत्तरदायी है। अपने अज्ञान और मिथ्यादृष्टियों से मानव ने स्वयं ही अपने लिए दुःखों का उत्पाद किया है, अतः कोई दूसरी शक्ति उसे मुक्त नहीं कर सकती। इसके लिए उसे स्वयं प्रयास करना होगा।

अनित्यवाद (क्षणिकवाद)

बौद्ध धर्म के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएँ अनित्य हैं चाहे वह जड़ हों अथवा चेतन। प्रत्येक पदार्थ में लगातार परिवर्तन की एक प्रक्रिया चल रही है, जिसमें एक स्थिति प्रतिक्षण नष्ट व दूसरी प्रतिक्षण निर्मित हो रही है। यही बुद्ध का अनित्यवाद (क्षणिकवाद) है। वस्तुएँ सिर्फ अनित्य ही नहीं हैं, बल्कि क्षण भर के लिए सामने आती हैं, किंतु दूसरे ही क्षण वह विलीन हो जाती हैं। इसकी सुंदर व्याख्या दीपशिखा के माध्यम

से की गई है। दीपक की बाती के माध्यम से तेल की एक-एक बूँद उर्ध्वगामी होती है, प्रत्येक बूँद का प्रज्ज्वलन पृथक्-पृथक् लौ उत्पन्न करता है और इस प्रकार अनेक अनवरत लौ ही एक लौ के रूप में दिखाई देती है। इस प्रक्रिया में एक लौ लगातार नष्ट होती है और दूसरी लगातार बनती रहती है। अनुभव की प्रत्येक अवस्था आविर्भूत होने के बाद तुरंत तिरोहित होते ही अगली अवस्था में लीन हो जाती है और इस प्रकार प्रत्येक अगली अवस्था में सभी पूर्वगामी अवस्थाएँ अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती हैं जो अनुकूल परिस्थितियों में अभिव्यक्त कर देती हैं। यद्यपि मानव किन्हीं दो क्षणों में वही नहीं बना रहता, तथापि वह पूर्णतया भिन्न भी नहीं हो जाता है। यह शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद का मध्यमार्ग है जो सृष्टि की प्रवाहमय स्थिरता की ओर इंगित करता है और सृष्टि के प्रति निर्लिप्त रहने का संदेश देता है।

अनात्मवाद

बुद्ध अनात्मवादी हैं, वे आत्मा नामक किसी स्थायी तत्त्व में विश्वास नहीं करते। वे केवल क्षणिक संवेदनों और विचारों की सत्ता को स्वीकार करते हैं और अपरिवर्तनशील सत्ता के रूप में आत्मा को एक अनावश्यक कल्पना मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा पाँच स्कंधों- रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार-से निर्मित एक संघात मात्र है। जिस प्रकार धुरी, पहिये, रस्सियों आदि के संघात-विशेष का नाम रथ है, उसी प्रकार पंच-स्कंधों के संघात के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, अर्थात् आत्मा इन्हीं पंच-स्कंधों की समष्टि का नाम है। पाँचों स्कंध सदैव बदलनेवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिए उनसे निर्मित आत्मा भी अनित्य है। यही बुद्ध का अनात्मवाद है।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध शाश्वत आत्मा का निषेध करते हैं और कहते हैं कि ''विश्व में न कोई आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। शाश्वत आत्मा में विश्वास उसी प्रकार हास्यास्पद है, जिस प्रकार काल्पनिक सुंदरी के प्रति अनुराग रखना।''

आत्मा की तरह भौतिक वस्तुएँ भी संघात ही हैं और उनके मूल में भी कोई एकता नहीं है। आत्मा और भूतद्रव्य दोनों का केवल संघात रूप में अस्तित्व है। यह संघात दो क्षणों तक भी वही का वही नहीं बना रहता, बल्कि निरंतर परिवर्तित होता रहता है। इसलिए आत्मा और भौतिक जगत् दोनों जल की धारा या अग्नि की ज्वाला के समान संतान (परिवर्तनशील) हैं।

पुनर्जन्म की व्याख्या

बुद्ध की यह विशेषता है कि उन्होंने नित्य-आत्मा का निषेध करके भी पुनर्जन्म की व्याख्या की है। यदि कर्त्ता के बिना कर्म हो सकता है तो आत्मा के बिना पुनर्जन्म भी हो सकता है। बुद्ध के मतानुसार पुनर्जन्म का अर्थ विज्ञान प्रवाह की अविच्छिन्नता है। जब एक विज्ञान प्रवाह का अंतिम विज्ञान समाप्त हो जाता है, तब अंतिम विज्ञान की मृत्यु हो जाती है और एक नये शरीर में एक नये विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इसी अविरल प्रवाह को बुद्ध ने पुनर्जन्म कहा है। केवल इस जीवन के समाप्त होने पर ही पुनर्जन्म नहीं होता है, बल्कि प्रतिक्षण पुनर्जन्म होता है। बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या दीपक की लौ से की है। एक व्यक्ति से संबंध रखनेवाला कर्म जैसे जीवन-काल में वैसे ही मृत्यु-काल में भी अपने को संचारित कर सकता है, और यद्यपि मृत व्यक्ति पुनजीर्वित नहीं होता, तथापि उसके स्थान पर उसी के संस्कारवाला दूसरा व्यक्ति जन्म ले सकता है। इस प्रकार 'पुनर्जन्म किसी आत्मा का नहीं, चरित्र का होता है।'

निर्वाण

मानव के जीवन का चरम लक्ष्य है- जरा-मरण ऌदुःखऋ के बंधन से मुक्ति अर्थात् निर्वाण। सामान्यतः जन्म-मरण की परंपरा अविद्या, क्लेश और कर्म पर आश्रित है। विद्या से क्लेश क्षीण हो जाता है और संसार-चक्र का निरोध हो जाता है। साधारणतः इसे ही निर्वाण कहा गया है।

निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है 'बुझ जाना' अर्थात् जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा। निर्वाण का सिद्धांत वैदिक धर्म के मोक्ष के सिद्धांत से भिन्न है। वैदिक धर्म के अनुसार सत्कर्मों से व्यक्ति में निहित आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है और व्यक्ति पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है। बौद्ध धर्म में निरोध अथवा

निर्वाण विनाश का सूचक नहीं है। आग का बुझना आग का नाश नहीं, किंतु उसका अपने मूल-प्रभाव में फिर से लय हो जाना है। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण इसी जन्म में प्राप्त हो सकता है, किंतु महापरिनिर्वाण मृत्यु के बाद ही संभव है।

मानव जाति की समानता

बुद्ध मानव जाति की समानता के अनन्य पोषक थे। उनका कहना था कि जन्म से कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण नहीं होता, वरन् कर्म से ही जाति का निर्धारण होता है। जिस प्रकार अग्नि सभी प्रकार की लकड़ियों से प्रज्ज्वलित हो सकती है, उसी प्रकार सभी जाति के लोग संन्यासी होकर जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। उन्होंने सभी जाति और वर्ण के लोगों को अपने धर्म और संघ का द्वार खोल दिया।

प्रत्यक्षवाद

बुद्ध का धर्म एक आविष्कार है, एक खोज है क्योंकि यह मनुष्य-जीवन और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के गंभीर अध्ययन का परिणाम है। 'आओ और देखो' (एहिपस्सिको) इस धर्म का प्रत्यक्षवाद है। बुद्ध ने कहा कि मेरी बात को भी इसलिए न मानो कि उसे बुद्ध ने कही है। उन पर भी संदेह करो और विविध परीक्षाओं द्वारा उनकी परीक्षा करो। जीवन की कसौटी पर उन्हें परखो, अपने अनुभवों से मिलान करो, यदि तुम्हें सही जान पड़े तो स्वीकार करो, अन्यथा छोड़ दो। यही कारण है कि बौद्ध धर्म रहस्याडंबरों से मुक्त, नितांत बुद्धिवादी, मानवीय सम्वेदनाओं से ओतप्रोत है और हृदय का सीधे स्पर्श करता है।

बौद्ध धर्म की सामाजिक परिकल्पना वर्णव्यवस्था से मुक्त नही थी क्योंकि बौद्ध ग्रंथों में ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर अधिक बल दिया गया है। क्षत्रियों को अपनी रक्त-शुद्धता पर अभिमान भी था। संयुक्त निकाय में क्षत्रियों को मानवमात्र में श्रेष्ठ बताया गया है। वस्तुतः नवीन परिवर्तनों के कारण जब ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा खो रही थी तो अपनी विशिष्ट भूमिका के कारण नये शक्तिशाली क्षत्रिय वर्ग को अधिक प्रतिष्ठा मिलना स्वाभाविक था।

बौद्ध धर्म के प्रमुख संप्रदाय और बौद्ध संगीतियाँ

थेरवाद (स्थविरवाद)

बौद्ध धर्म का प्रमुख स्वरूप थेरवाद (स्थविरवाद) है। थेरवादी प्राचीन बौद्ध धर्म के पालि धर्म-ग्रंथों को आधिकारिक मानते हैं तथा अपनी वंशावली को 'अग्रजों' (संस्कत में स्थविर और पालि में थेर) से जोड़ते हैं। इस मत को 'अग्रजों का मार्ग' या 'प्रधानवाद' भी कहते हैं। थेरवादी (स्थविरवादी) लोकपरंपराओं का निर्वाह तथा अनुगमन करते थे और समयानुसार उन्हें परंपरा में परिवर्तन तथा परिवर्धन स्वीकार नहीं था। इसलिए वे रूढ़िवादी कहे गये। थेरवाद में सामान्य मानव एवं भिक्षु की भूमिका में स्पष्ट भेद किया गया है। इनके अनुसार बुद्धत्व की प्राप्ति सबको नहीं हो सकती। इनका प्रधान केंद्र कश्मीर था। थेरवाद मत श्रीलंका, म्यांमार, थाईलैंड, कंबोडिया एवं लाओस में प्रचलित है। इसलिए यह 'दक्षिणी शाखा' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

महासांघिक

बौद्ध संघ में पहला विभाजन चाथी शताब्दी ई.पू. में वैशाली की दूसरी परिषद् में उस समय हुआ जब एक समूह स्थविरवादियों (थेरवादियों) से अलग हुआ और महासांघिक के रूप में जाना जाने लगा। महासांघिकों ने तर्क के आधार पर यह स्वीकार किया कि प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धत्व प्राप्त करने की स्वाभाविक शक्ति होती है तथा समय और संयोग से सभी को बुद्धत्व की प्राप्ति हो सकती है। इन महासांघिकों का प्रधान केंद्र मगध था। प्रायः स्वीकार किया जाता है कि महासांघिक धारा ने महायान के आविर्भाव में विशेष भाग लिया।

हीनयान

हीनयान शाखा के अनुयायी बुद्धवचन को ही प्रमाण मानते थे। इस संप्रदाय के सिद्धांत सीधे-सादे उसी रूप में हैं, जिस रूप में गौतम बुद्ध ने उनका उपदेश किया था। बुद्ध को एक महापुरुष माना गया, कोई अलौकिक या अवतारी सत्ता नहीं। हीनयान अनीश्वरवादी और कर्मप्रधान दर्शन है। भाग्यवाद जीवन का शत्रु है, इसीलिए हीनयानियों ने स्वावलंबन पर विशेष बल दिया है। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने

व्यक्तिगत प्रयत्नों से ही निर्वाण की प्राप्ति करनी चाहिए। बुद्ध ने स्वयं ही कहा था कि सभी पदार्थ नाशवान हैं। जीवन दुःखमय और क्षणभंगुर है। इन दुःखों से छुटकारा पाने और शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए स्वयं को ही प्रयास करना होगा। हीनयानी का लक्ष्य केवल अपने लिए अर्हत्व की प्राप्ति है और इसका आधार अष्टांगिक मार्ग है। हीनयान शाखा के अनुयायियों ने बुद्ध की प्रतिमा बनाने की अपेक्षा रिक्त स्थान अथवा पद-चिन्ह को ही बुद्ध का प्रतीक मान लिया।

हीनयान को 'श्रावकयान' भी कहा जाता है। श्रावक का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है, जो जीवन के दुःखों से त्रास्त होकर निर्वाण के पथ पर अग्रसर होता हैं। श्रावक की चार अवस्थाएँ हैं- स्रौतापन्न श्रावक वह है जो व्यक्तित्व के विकास-क्रम के स्रोत्रा में प्रवाहमान होता है। ऐसे श्रावक को चार प्रकार की संबोधि प्राप्त हो सकती है- बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति तथा शीलानुस्मृति। इनके माध्यम से उसे बुद्ध, धर्म, संघ और शील की अनुभूति होती है। ऐसे व्यक्ति को सात जन्मों के बाद अवश्य निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। स्रौतापन्न श्रावक जब अपना विकास करके अपने क्लेशों के विनाश के लिए जिस अवस्था को प्राप्त करता है, उसे 'सकृदागामी' कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को एक ही जन्म में निर्वाण की प्राप्ति होती है। वर्तमान जीवन में ही निर्वाण की प्राप्ति कर लेनेवाले श्रावक को 'अनागामी' कहा जाता हैं। जब श्रावक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है, उस दशा को अर्हत् की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार हीनयान में बौद्ध धर्म का प्राचीन रूप दिखाई देता है। इनकी मुख्य आस्था कर्म और धर्म में थी। हीनयान में बुद्ध, धम्म तथा संघ को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इस शाखा के धार्मिक ग्रंथ पालि भाषा में हैं जिसे बुद्ध के समय लोकभाषा का स्थान प्राप्त था। हीनयान में आराधना और उपासना का तत्व न होने के कारण जनसाधारण में यह लोकप्रिय नहीं हो सका। हीनयान मत बर्मा, श्रीलंका, कंपूचिया आदि देशों में अधिक प्रचलित है।

महायान

महायान का अभिप्राय है- वृहत्यान अथवा ऐसा प्रशस्त मार्ग, जिसके माध्यम से अधिकाधिक प्राणियों को निर्वाण का सुख प्राप्त हो सके। बौद्धधर्म की इस शाखा को एकयान, अग्रयान, बोधिसत्वयान एवं बुद्धयान के साथ-साथ 'उत्तरी बौद्ध धर्म' भी कहते हैं। आज विश्व के अधिकांश भागों में महायान मत के मानने वाले बौद्धों की संख्या अधिक है। चीन, तिब्बत, कोरिया व मंगोलिया आदि देशों में महायान अधिक प्रचलित है।

महासांघिकों से ही अवांतर परिवर्तनों के बाद महायान का उदय हुआ था। ई.पू. पहली शताब्दी में वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति में थेर भिक्षुओं ने मतभेद रखनेवाले भिक्षुओं को संघ से बाहर निकाल दिया था। उसी समय अलग हुए पूर्वी शाखा के भिक्षुओं ने अपना संघ बनाकर स्वयं को महासांघिक और थेरवादियों को हीनसांघिक नाम दिया जिसने बाद में क्रमशः महायान और हीनयान का रूप धारण कर लिया। महायानियों का कहना है कि वास्तविक बुद्धदेशना का लक्षण जो विनय और सूत्र में उपलब्ध है तथा धर्मता के अनुकूल है, महायान में ही है।

महायान का द्वार सभी प्राणियों के लिए खुला था, यहाँ तक कि गृहस्थ भी इसके अनुयायी हो सकते थे। प्रत्येक मानव बोधिचर्या से अर्थात् करुणा, मुदिता, मैत्री और अपेक्षा के आचरण द्वारा अथवा दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक छः पारमिताओं की साधना द्वारा बुद्धत्व के पथ पर अग्रसर हो सकता है। किंतु वह स्वयं बुद्ध नहीं बनना चाहता, क्योंकि उसके अकेले बुद्धत्त्व-प्राप्ति से कुछ नहीं होगा, जब तक कि उसके और साथी सांसारिक दुःखों से हटकर निर्वाण की ओर अग्रसर नहीं होते। वह चिंतन करता है कि उसने जो कुछ भी पुण्य लाभ किया है वह सब सत्वों की अर्थ-सिद्धि के लिए प्रयुक्त हो।

महायान ने बुद्ध को ईश्वरतुल्य स्वीकार किया और बौद्ध धर्म में बोधिसत्व की भावना का समावेश किया जिसके परिणामस्वरूप बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की उपासना की जाने लगी। इस प्रकार की पूजा में वंदना, अर्चना, पापदेशना (अपने पापों को व्यक्त करना), पुण्यानुमोदन (सभी प्राणियों के प्रति पुण्य करने की

भावना), बुद्धाध्येषण (सर्वदा बोधि की खोज में रहने की इच्छा), बुद्धयाचना (अपने पुण्यों के कारण सभी प्राणियों के कल्याण की भावना) तथा बोधि-परिणामना (पूजा की सर्वश्रेष्ठ स्थिति) सम्मिलित है। कालांतर में यही मूर्ति-पूजा का आधार बना।

इस संसार के असंख्य लोकों के लिए अनगिनत बुद्धों की परिकल्पना की गई। आरंभ में बुद्ध की संख्या छः थी, जो बाद में चौबीस हुई और कालांतर में असंख्य हो गई। प्रत्येक बुद्ध के दो सहायक बोधिसत्व माने गये जो संपूर्ण मानवता को सद्धर्म की ओर प्रेरित करते हैं। बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर सर्वाधिक महिमामंडित हैं। महायानियों के अनुसार जब तक सभी मनुष्यों को निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक वे बुद्धत्व प्राप्त नहीं करेंगे। दूसरे बोधिसत्व मैत्रेय तथा मंजुश्री आदि हैं।

महायान संप्रदाय में भिक्षुओं के अतिरिक्त गृहस्थों के लिए भी सामाजिक उन्नति का मार्ग निर्दिष्ट किया गया। इस संप्रदाय के अंतर्गत गृहस्थ जीवन को अपनाकर कोई भी व्यक्ति निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। गृहस्थ उपासकों के लिए निर्वाण प्राप्ति की ऐसी व्यवस्था हीनयान संप्रदाय में नहीं थी। यही कारण था कि महायान संप्रदाय का अपेक्षाकृत अधिक प्रसार हुआ। महायान मतावलंबियों का कहना था कि गृहस्थों में दान की भावना तृष्णा, भय व चिंता को दूर करती है। अतएव गृहस्थ को अत्यधिक दान देना चाहिए। गृहस्थ को पुत्र को शत्रु मानना चाहिए क्योंकि वह अत्यधिक प्रेम तथा आकर्षण का पात्र है। इसी के कारण पिता बुद्धवचन से विमुख हो जाता है। प्रेम उचित मार्ग से पृथक् कर देता है। गृहस्थ को सांसारिक वस्तुओं को त्यागना चाहिए ताकि मृत्यु के समय वह तृष्णारहित सुख का अनुभव करे।

महायान भक्ति प्रधान मत है और इसी के प्रभाव से बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण आरंभ हुआ। भरहुत, बोधगया तथा साँची की कला लाक्षणिक थी। मूर्तिपूजा के प्रचलन के कारण अब लक्षण के स्थान पर बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाएँ तैयार होने लगीं। कनिष्क के समय में सर्वप्रथम गांधार कला शैली में बुद्धमूर्तियाँ निर्मित हुईं। बुद्ध को योगी और भिक्षु के रूप में तथा बोधिसत्व को राजकुमार के वेश में (वस्त्रालंकार युक्त) दिखलाया गया। भगवान् बुद्ध की प्रतिमाएँ ध्यान तथा बुद्धत्व प्राप्ति की अवस्था में दिखलाई गई हैं। महायानियों ने ही संसार भर में बुद्ध की मूर्ति और प्रार्थना के लिए स्तूपों का निर्माण किया। यूनानी, ईसाई, पारसी और अन्य धर्मावलंबी महायानियों की पूजा-पद्धति, स्तूप-रचना, संघ-व्यवस्था रहन-सहन और पहनावे से प्रभावित थे। महायान मत के प्रमुख विचारकों में अश्वघोष, नागार्जुन और असंग आदि थे।

बौद्ध-संघ की स्थापना

बौद्ध धर्म में संघ 'त्रिरत्न' (बुद्ध, धम्म, संघ) का एक अनिवार्य अंग है। बुद्ध ने सारनाथ में अपने धर्मोपदेश के बाद पंचवर्गीय ब्राह्मण भिक्षुओं के साथ भिक्षु-संघ की स्थापना की। इसके बाद वाराणसी में ही यश नाम का श्रेष्ठिपुत्र, यश के पाँच तरुण मित्र- विमल, सुबाहु, पुण्णज (पूर्णजित्) तथा गवाँपति और उनके पचास अन्य मित्रों- संबंधियों को बौद्ध-संघ का सदस्य बनाया गया। इन साठ भिक्षुओं से ही बुद्ध-संघ का आरंभ हुआ। इसके पूर्व आजीवकों एवं जैनियों के संघ विद्यमान थे।

संघ में सम्मिलित होनेवाले को भिक्षुक कहा जाता था जो घर-परिवार से संबंध-विच्छेद कर संन्यासी के रूप में रहते थे, भिक्षाटन से भोजन करते थे और घूम-घूमकर बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करते थे। भिक्षुओं को संघ के निश्चित नियमों का पालन करना पड़ता था और उसका उल्लंघन करने पर दंड का भागी होना पड़ता था। संघ का द्वार सभी के लिए खुला था जिसमें सभी वर्ग और जाति के लोग बिना किसी भेदभाव के सम्मिलित हो सकते थे, किंतु शीघ्र ही बुद्ध ने नवीन समाजार्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण अल्पव्यवस्कों (15 वर्ष से कम कम आयु), चोरों, हत्यारों, ऋणी व्यक्तियों, राजा के सेवकों, दासों तथा रोगियों का संघ में प्रवेश वर्जित कर दिया। आरंभ में स्त्रियों को भी संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं थी, किंतु बाद में स्त्रियों (भिक्षुणी) को भी संघ का सदस्य बनाया गया।

बुद्ध गणतांत्रिक प्रणाली में विश्वास करते थे और उनका जन्म भी गणराज्य में ही हुआ था। उन्होंने गणतांत्रिक पद्धति के आधार पर संघ का संगठन किया। वे प्राचीन जनजातीय जीवन के सिद्धांत को संघ के लिए उपयोगी मानते थे। वर्गविहीन जनजातीय जीवन में सामाजिक एकता, आपसी भाईचारा तथा संपत्ति-संग्रह के प्रति अपेक्षाकत अनासक्ति संघ के नियम (विनय) में स्पष्ट परिलिक्षित होते हैं। संघ में न तो कोई बड़ा था और न तो कोई छोटा। बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी भी नियुक्त नहीं किया, वरन् धर्म तथा विनय को ही शास्ता बताया था।

बौद्ध संगीतियाँ

संगीति का अर्थ होता है 'परिषद् या सभा' अथवा संगायन। बौद्ध संगीति से तात्पर्य उस संगोष्ठी, परिषद् या सम्मेलन अथवा महासभा से है जो बुद्ध के परिनिर्वाण के अल्प समय के पश्चात् से ही उनके उपदेशों को संग्रहीत करने, उनका पाठ (वाचन) या संगायन करने आदि के उद्देश्य से संबंधित थीं। इन संगीतियों को प्राय: 'धम्मसंगीति' कहा जाता है।

प्रथम धम्म संगीति

बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन माह बाद ई.पू. 483 में मगध नरेश अजातशत्रु के संरक्षकत्व में प्रथम धम्म संगीति का आयोजन राजगृह (आधुनिक बिहार का राजगिरि) की सप्तपर्णि गुफा के द्वार पर हुआ। इस संगीति की अध्यक्षता स्थविर महाकस्सप (महाकश्यप) ने की।

इस धम्म संगीति के अवसर पर बुद्ध की शिक्षाओं का संकलन कर उन्हें सुत्त और विनय नामक दो पिटकों में विभाजित किया गया। चूंकि इस धम्म संगीति में पाँच सौ अर्हत् पद प्राप्त भिक्षु सम्मिलित थे, इसलिए इसे 'पंचशतिका' कहा गया है। इस प्रकार पाँच सौ क्षीणास्रव भिक्षुओं को साथ लेकर सात मास तक किये गये महाकस्सप के प्रयास ने बौद्ध धर्म को आगामी पाँच हजार वर्षों तक बने रहने के योग्य बना दिया।

दूसरी धम्म संगीति

दूसरी धम्म संगीति महापरिनिर्वाण के एक शताब्दी बाद अर्थात् चतुर्थ शताब्दी ई.पू. में मगधराज कालाशोक के संरक्षण में वैशाली के बालुकाराम (कूटागारशाला) में हुई।

यह संगीति विनय-नियमों के संबंध में उत्पन्न मतभेद को समाप्त करने के लिए महास्थविर रेवत की मध्यस्थता में हुई जिसमें 700 पूर्वी और पश्चिमी अर्हत् भिक्षुओं ने भाग लिया। स्थविरों ने विनय-विरुद्ध दसों वस्तुओं को माननेवाले वज्जिपुत्तकों को संघ से निष्कासित कर दिया।

निष्कासित वज्जिपुत्तकों ने स्थविर अर्हतों के बिना पाटलिपुत्र (कोशांबी?) में एक अन्य महासंगीति (महासंघ) की और महासांघिक नाम से अपना पृथक् मतवाद चलाया।

इस प्रकार बौद्ध-संघ स्पष्टत: दो निकायों में विभक्त हो गया- स्थविरवादी और महासांघिक। कालांतर स्थविरवाद से ही सत्तरह और वाद निकले, जिससे बौद्ध-संघ अठारह निकायों में विभक्त हो गया।

तीसरी बौद्ध संगीति

बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 236 वर्ष बाद 249 ई.पू. में मौर्य सम्राट अशोक के संरक्षण में पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति का संगायन संपन्न हुआ। यह संगीति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में अशोकाराम विहार में हुई। इस संगीति में अभिधम्म (श्रेष्ठधर्म) के एक भाग के रूप में 'कथावत्थु' का संकलन किया गया। इस संगीति में बुद्ध की शिक्षाओं का नये सिरे से विभाजन कर उसमें एक नया पिटक 'अभिधम्म' जोड़ा गया। इस प्रकार इसी संगीति में त्रिपिटक (सुत्त, विनय एवं अभिधम्म) को अंतिम रूप प्रदान किया गया।

इस सभा का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय विदेशों में बुद्ध धर्म के प्रचारार्थ भिक्षुओं को भेजना था जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म श्रीलंका, सुवर्णभूमि, म्यांमार, थाइलैंड, लाओस, कंबोडिया आदि में फैल गया।

चतुर्थ बौद्ध संगीति

चतुर्थ बौद्ध संगीति प्रथम शताब्दी ई. में कनिष्क के शासनकाल (लगभग 78 ई.) में कश्मीर के कुंडलवन अथवा जालंधर के 'कुवन' (तारानाथ के अनुसार) में आयोजित की गई। इस संगीति की अध्यक्षता आचार्य वसुमित्र और उपाध्यक्षता अश्वघोष ने की। इस संगीति में त्रिपिटक के प्रमाणिक पाठ और उसके भाष्यों पर संस्कत भाषा में 'महाविभाषा' नामक एक विशाल ग्रंथ की रचना की गई और उसे ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराकर एक स्वर्ण-पिटारी में बंदकर उस पर विशाल स्तूप का निर्माण करवाया गया। इस स्तूप के स्थान की पहचान अभी तक नहीं हो सकी है।

इस संगीति में बौद्ध धर्म स्पष्टत: दो शाखाओं- हीनयान एवं महायान में विभाजित हो गया। इस संगीति के बाद अनेक धर्म-प्रचारक बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करने मध्य एशिया, तिब्बत, चीन आदि देशों में गये।

लंका द्वीप की पुस्तकारोपण संगीति

एक अन्य चतुर्थ संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के 450 वर्ष बाद ताम्रपर्णि (लंका द्वीप) में वट्टगामणि अभय (ई.पू. 103-77 में) के शासनकाल में महास्थविर धर्मरक्षित् की अध्यक्षता में मातुल जनपद की आलोक लेन नामक गुफा में आयोजित की गई थी। इस संगीति में समस्त बुद्धवचनों को पहली बार ताड़पत्र पर लिपिबद्ध किया गया, इसलिए इस संगीति को 'पुस्तकारोपण संगीति' के नाम से भी जाना जाता है।

पाँचवीं शिलाक्षरारोपण संगीति

इसके बाद 1871 ई. में ब्रह्मदेश (बर्मा) के राजा मिनदोन मिन के शासनकाल में मांडले के प्रसिद्ध रज्जपुंज नामक नगर में भदंत जागर स्थविर की अध्यक्षता में पाँचवीं बौद्ध धम्म-संगीति (थेरवादी) आयोजित की गई। मांडले संगीति में बुद्धवचन (त्रिपिटक) को संगमरमर की साढ़े पाँच फीट ऊँची, साढ़े तीन फीट चौड़ी एवं पाँच इंच पतली, 729 शिलाओं पर उत्कीर्ण किया गया, इसलिए यह संगीति 'शिलाक्षरारोपण संगीति' के नाम से प्रसिद्ध है।

महापाषाण शैल गुहा संगीति

एक बौद्ध संगीति बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 2500वें वर्षगाँठ के अवसर पर 17 मई, 1954 से 24 मई, 1956 ई. तक ब्रह्मदेश (म्यांमार) की राजधानी यांगून (रंगून)में श्रीमंगल नामक स्थान पर लोकराम चैत्य के समीप राजगृह के सप्तपर्णि गुफा की तरह विशेष रूप से निर्मित 'महापाषाण शैल गुहा' में आयोजित की गई, जिसमें आठ विभिन्न देशों- म्यांमार, कंबोडिया, लाओस, नेपाल, श्रीलंका, भारत, जर्मनी और थाईलैंड के भिक्षुओं ने भदंत रेवत स्थविर की अध्यक्षता में प्रतिभाग किया। इस संगीति के सभी प्रतिभागी देशों को अपनी-अपनी मातृभाषा में त्रिपिटक को लिपिबद्ध करने की अनुमति दे दी गई।

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण

बौद्ध धर्म के विकास की प्रक्रिया उसके उद्‌भव काल से प्रारंभ हो गई थी। बुद्ध के जीवनकाल में ही इस धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् भी इस धर्म का तीव्रता से विकास होता रहा। अशोक और कनिष्क जैसे शासकों के संरक्षण में यह धर्म भारत-भूमि के बाहर सुदूर विदेशों में भी फैल गया। 12वीं शताब्दी ई. तक यह धर्म चीन, मध्य एशिया, सुदूर-दक्षिण-पूर्व तक पहुँच गया। बौद्ध धर्म की इस व्यापक लोकप्रियता के अनेक कारण थे-

1. नवीन अर्थव्यवस्था को समर्थन

बौद्ध धर्म की व्यापक लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण था कि इसने नई विकासशील अर्थव्यवस्था को अपना समर्थन दिया। छठी शताब्दी ई.पू. लौह-तकनीक पर आधारित आर्थिक विकास की शताब्दी थी। आर्थिक प्रगति के इस काल में प्राचीन वैदिक धर्म की अनेक मान्यताएँ- समुद्री व्यापार, सूद और कर्ज की व्यवस्था आदि नगरीय जीवन के विकास के प्रतिकूल थीं। इस काल में ब्राह्मण विधि-निर्माताओं ने ऋण तथा ब्याज प्रथा की निंदा की है, किंतु ऋण लेने की प्रथा व्यापार के लिए आवश्यक थी। व्यापारियों एवं

धनिकों को ऐसे नियमों और सिद्धांतों की आवश्यकता थी जो व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा तथा संपत्ति के अधिकार को किसी न किसी रूप में मान्यता प्रदान करें। व्यक्तिगत संपत्ति की सुरक्षा, ऋण एवं ब्याज (सूद) की व्यवस्था पर बौद्ध साहित्य में प्रतिबंध नहीं लगाया गया है। बौद्ध ग्रंथों में व्यापार के लिए ऋण लेने की प्रथा का उल्लेख मिलता है और इसकी निंदा नहीं की गई है। समुद्री व्यापार को वैदिक परंपरा के ग्रंथों में निंदित माना गया है, जबकि बौद्ध साहित्य में समुद्री व्यापार के लिए अनुकूल दृष्टिकोण अपनाया गया है। जैन तथा बौद्ध धर्म की अपरिग्रह की शिक्षा केवल भिक्षुओं के लिए ही सार्थक हो सकती थी जबकि अस्तेय संपत्ति के अधिकार को अप्रत्यक्ष समर्थन देता है। बौद्ध संघ में ऋणी व्यक्ति को प्रवेश से वंचित करना भी इसमें सहायक सिद्ध हुआ। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के व्यापार करने पर प्रतिबंध था और वैश्य वर्ग सम्मान की दृष्टि से समाज में तीसरे स्थान पर था। यही कारण है कि वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को विशेष रूप से समर्थन दिया। गया एवं साँची के स्तूपों में वर्णित दृश्यों से स्पष्ट है कि वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को अपनाकर तथा दानादि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया।

नई कषि-व्यवस्था के लिए पशुओं का संरक्षण आवश्यक था, जबकि वैदिक यज्ञों में पशुवध जारी था। बौद्ध ग्रंथों में स्पष्ट कहा गया है कि लोग पशुवध के कारण पुरोहितों की निंदा करते हैं और शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय उनके मत को अस्वीकार कर रहे हैं। यही नहीं, सुत्तनिपात में कहा गया है कि इसी कारण धनी ब्राह्मण भी बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में आ रहे हैं। साम्राज्यवादी युद्धों से व्यापारियों और कृषकों को बहुत हानि होती थी। अहिंसामूलक बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ साम्राज्यवादी युद्धों और पशुबलि के विपरीत थीं। इससे कृषक और व्यापारी दोनों ही वर्गों को लाभ हुआ। वैदिक धर्म के आचार-विचार तथा गणिकाओं के प्रति दृष्टिकोण भी नागरिक जीवन के अनुकूल नहीं थे, किंतु बुद्ध धर्म की शिक्षाएँ नागरिक जीवन की मान्यताओं के अनुकूल थीं। इस प्रकार बौद्ध धर्म के सिद्धांत नई आर्थिक व्यवस्था तथा उपज के अधिशेष पर विकसित हो रहे नगरीय जीवन के अनुकूल थे।

2. बौद्ध धर्म के सरल सिद्धांत

बौद्ध धर्म का उद्‌भव उस समय हुआ था जब एक ओर वैदिक कर्मकांडों एवं यज्ञीय विधि-विधानों के कारण ब्राह्मण पुरोहितों का धर्म और समाज पर एकाधिकार हो गया था और दूसरी ओर अनेक परिव्राजक संप्रदाय नैतिकताविहीन मत का प्रचार कर रहे थे जिससे संपूर्ण जनमानस में संशय, अराजकता और व्याकुलता व्याप्त थी। संपूर्ण धार्मिक एवं सामाजिक जीवन वर्णभेद, ऊँच-नीच, छुआछूत की विषमताओं से भरा पड़ा था। इस अराजकता और विषमता के वातावरण में बुद्ध ने न केवल पुरातन वैदिक कर्मकांडों एवं परंपराओं का विरोध किया और अतिवादी संप्रदायों के अव्यवस्थाजनक मतों का खंडन किया, वरन् समाज को एक ऐसा सरल और सुगम धर्म प्रदान किया जिसमें कोई भी व्यक्ति बिना किसी जाति भेद के निर्वाण प्राप्त कर सकता था। गौतम बुद्ध के इस नवीन धर्म ने आम-जनमानस में नई आशा और उत्साह का संचार किया और समाज के प्रायः सभी वर्गों ने इस धर्म को अपना सहयोग और समर्थन दिया।

बौद्ध धर्म की सरलता भी उसके विकास में सहायक हुई। बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म की अपेक्षा अधिक सरल और सुविधाजनक था। इसमें खर्चीले यज्ञों, लालची पुराहितों तथा पशुओं के बलि की आवश्यकता नहीं थी। कोई भी व्यक्ति अपने सदाचरण के द्वारा जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता था। बुद्ध का 'मध्यम मार्ग' आम जनमानस के लिए अधिक व्यवहारिक था।

3. बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व

बौद्ध धर्म के विकास में बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी योगदान था। राजपरिवार से संबद्ध होने के बावजूद उन्होंने संपूर्ण मानवता के कल्याण के लिए सांसारिक सुखों का परित्याग कर संन्यासी जीवन को अपनाया। जनता उनके इस त्याग से अत्यधिक प्रभावित हुई और आम जनमानस ने अनुभव किया कि बुद्ध निःस्वार्थ जनकल्याण में लगे हैं। बुद्ध के धर्म-प्रचार का ढ़ंग भी प्रभावशाली था। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा पालि को अपने उपदेशों का आधार बनाया। वे स्वयं लोगों से मिलकर उन्हीं की भाषा में संसार की

नि:सारता का उपदेश करते थे। वे अपने विचारों को तर्कपूर्ण ढ़ंग से कहानियों, लोकोक्तियों और मुहावरों के माध्यम से जनसामान्य के समक्ष रखते थे। वे अपने विरोधियों पर तर्क और प्रेम द्वारा विजय प्राप्त करते थे। अज्ञानियों को समझाने के लिए वे हास्य और व्यंग्य का भी सहारा लेते थे। यह उनके प्रेम और करुणा का प्रभाव था कि अंगुलिमाल जैसे डाकू और आम्रपाली जैसी गणिकाएं सद्धर्म के अनुयायी बने।

4. बौद्ध धर्म का समानता का सिद्धांत

नये धर्म को लोकप्रिय बनाने में बौद्ध धर्म के समानता के सिद्धांत ने भी पर्याप्त सहायता पहुँचाई। इस धर्म में किसी प्रकार के भेदभाव और ऊँच-नीच की भावना नहीं थी। इस धर्म का द्वार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, और शूद्रों, स्त्रियों और चांडालों सभी के लिए खुला हुआ था। इस धर्म को सभी जाति, वर्ण के लोग अपना सकते थे।

5. राजकीय संरक्षण

बौद्ध धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार में राजकीय संरक्षण से भी पर्याप्त सहायता मिली। राजकुल में उत्पन्न होने के कारण बुद्ध को अनेक क्षत्रिय राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ। बुद्ध के जीवनकाल में ही बिंबिसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित् और गणराज्यों के अनेक शासकों ने बुद्ध के सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया था। कालांतर में अशोक, कनिष्क, हर्षवर्धन एवं पाल शासकों ने इस धर्म को संरक्षण दिया, जिससे बौद्ध धर्म की प्रगति हुई।

6. संघ और संगीतियों की भूमिका

बौद्ध धर्म के लोकप्रिय बनाने में संघ का भी योगदान रहा है। बुद्ध ने अपने जीवनकाल में ही गणतांत्रिक आधार पर बौद्ध संघ का संगठन किया था। संघ में भिक्षु नियंत्रित और सदाचारी जीवन बिताते थे। संघ के इस आदर्शमय जीवन का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा। संघ के सदस्य उत्साहपूर्वक घूम-घूमकर बुद्ध के संदेशों का प्रचार-प्रसार करते थे। संघ को अनेक विद्वानों और व्यापारियों का भी सहयोग मिला जिनके प्रयास से बौद्ध धर्म विदेशों में भी फैल गया। नागार्जन, वसुमित्र, धर्मकीर्ति जैसे विद्वानों के माध्यम से बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायता मिली। बौद्ध संगीतियाँ भी इस धर्म के प्रचार-प्रसार में सहायक हुईं।

बौद्ध धर्म का योगदान

बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज, साहित्य, कला, धर्म और दर्शन के विकास में अपना अमिट योगदान दिया है। धार्मिक क्षेत्र में इसने वेदों, पुरोहितों और यज्ञीय कर्मकांडों की सर्वोच्चता को चुनौती दिया। अब कोई भी व्यक्ति बुद्ध के बताये मध्यम मार्ग पर चलकर बुद्धत्व की प्राप्ति कर सकता था। इसकी अहिंसा की नीति से पशुओं के संरक्षण को प्रोत्साहन मिला जिससे नवीन कषि प्रणाली और व्यापार के विकास में सहायता मिली।

सामाजिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म ने वर्ण-व्यवस्था, ऊँच-नीच और भेदभाव को अस्वीकार कर दिया और समाज के सभी वर्गों को समानता का अधिकार दिया। इस धर्म ने स्त्रियों को भी पुरुषों के समान निर्वाण का भागी माना और संघ का दरवाजा उनके लिए भी खोल दिया। यही नहीं, बौद्ध-भिक्षुओं के लिए भोजन, वस्त्र और सदाचार का नियम बना कर बौद्ध धर्म ने समाजवाद की कल्पना की।

बौद्ध धर्म ने भारतीय राजनीति को भी प्रभावित किया। अशोक जैसे सम्राट ने युद्ध और विजय की नीति का त्याग कर दिया। भारतीय दर्शन को बौद्ध धर्म ने अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, कर्मवाद और पुनर्जन्म का मौलिक दर्शन प्रदान किया।

शिक्षा और साहित्य के विकास में बौद्ध धर्म की उपलब्धियाँ और भी महत्त्वपूर्ण हैं। बौद्ध विहार धाृमक और दार्शनिक शिक्षा के केंद्र बन गये। नालंदा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों की ख्याति दूर-विदेशों तक में थी जहाँ विदेशों के विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे।

पालि और संस्कत भाषा में धर्म के सिद्धांतों, संघ के नियमों आदि का संकलन हुआ। बुद्ध के जन्म और उनके जीवन से संबद्ध घटनाओं को कलात्मक ढ़ंग से लिखा गया। पालि साहित्य में तत्कालीन सामाजिक

आर्थिक अवस्था को चित्रित किया गया। इनमें नगर जीवन का अच्छा परिचय मिलता है। गणतंत्रात्मक प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी के ये अच्छे स्रोत हैं।

बौद्ध धर्म के उद्‌भव और विकास ने भारतीय कला को गंभीरता से प्रभावित किया। स्थापत्य, मूर्तिकला एवं चित्रकला पर इस धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। बिहार की बराबर की पहाड़ियाँ में, नासिक, अजंता, एलोरा आदि की गुफाओं में गुहा-मंदिरों का निर्माण इसी धर्म के कारण हुआ। इसके साथ स्तूपों, विहरों एवं चैत्यों का भी निर्माण हुआ। इसके निर्माण की एक विशिष्ट शैली थी, जिसे 'बौद्ध स्थापत्य' कहा गया है। इस कला ने मध्य एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया की कला को भी प्रभावित किया।

बौद्ध धर्म के प्रभाव से मूर्तिकला का विकास हुआ। बुद्ध की विशाल और सुंदर मूर्तियाँ बनाई गईं जो धातु और पत्थर की थीं। गांधार और मथुरा की विशिष्ट शैलियों में भी बुद्ध की प्रतिमाएँ बनीं। बौद्ध मूर्तिकला का प्रसार मध्य एशिया में भी हुआ। अफगानिस्तान के बामियान में बुद्ध की सबसे ऊँची प्रतिमा थी। चित्रकला की भी पर्याप्त प्रगति हुई और बुद्ध के जीवन से संबद्ध दृश्यों को कलात्मक ढ़ंग से उकेरने का प्रयास किया गया। बाघ, अजंता और एलोरा की गुफाओं की चित्रकारी इसका सबसे उत्तम उदाहरण हैं।

बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण भारतीय सभ्यता और संस्कति का विदेशों में प्रसार हुआ। अशोक ने इस धर्म को श्रीलंका और अन्य देशों में प्रसारित किया। कनिष्क ने इसे मध्य एशिया तक पहुँचा दिया। कालांतर में यह धर्म चीन, जापान व दक्षिण-पूर्व एशिया देशों तथा तिब्बत और नेपाल में भी फैल गया। धर्म के विकास के साथ इन देशों से व्यापारिक और सांस्कतिक संबंध भी स्थापित हुआ। अनेक बौद्ध व्यापारी और धर्म-प्रचारक विदेशों में गये जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक तत्त्वों का आदान-प्रदान हुआ।

इसी प्रकार विदेशों से भी अनेक विद्वान् जिज्ञासु ज्ञान की खोज में भारत आये जिनमें फाह्यान, ह्वेनसांग, धर्मस्वामी, लामा तारानाथ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। बौद्ध धर्म से प्रभावित विदेशी शासकों ने भारत में बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए दान भी दिया।